अपूर्वा

केदारनाथ अग्रवाल

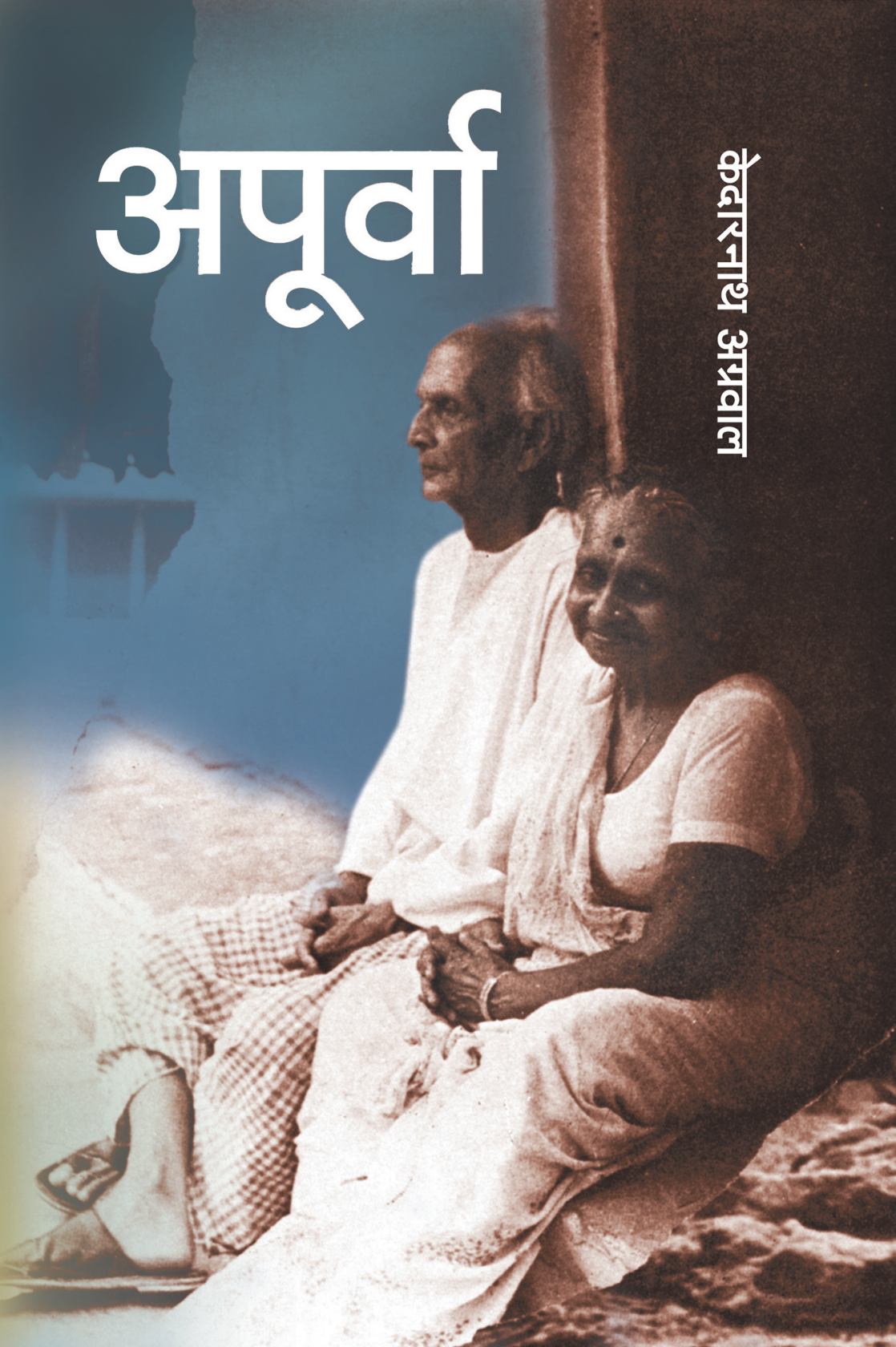

अपूर्वा

केदारनाथ अग्रवाल

साहित्य भंडार
इलाहाबाद 211 003

I S B N : 978-81-7779-180-X

❁

प्रकाशक

साहित्य भंडार

50, चाहचन्द, इलाहाबाद–3

दूरभाष : 2400787, 2402072

❁

लेखक

केदारनाथ अग्रवाल

❁

स्वत्वाधिकारिणी

ज्योति अग्रवाल

❁

संस्करण

साहित्य भंडार का

प्रथम संस्करण : 2009

❁

आवरण एवं पृष्ठ संयोजन

आर० एस० अग्रवाल

❁

अक्षर–संयोजन

प्रयागराज कम्प्यूटर्स

56/13, मोतीलाल नेहरू रोड,

इलाहाबाद–2

❁

मुद्रक

सुलेख मुद्रणालय

148, विवेकानन्द मार्ग,

इलाहाबाद–3

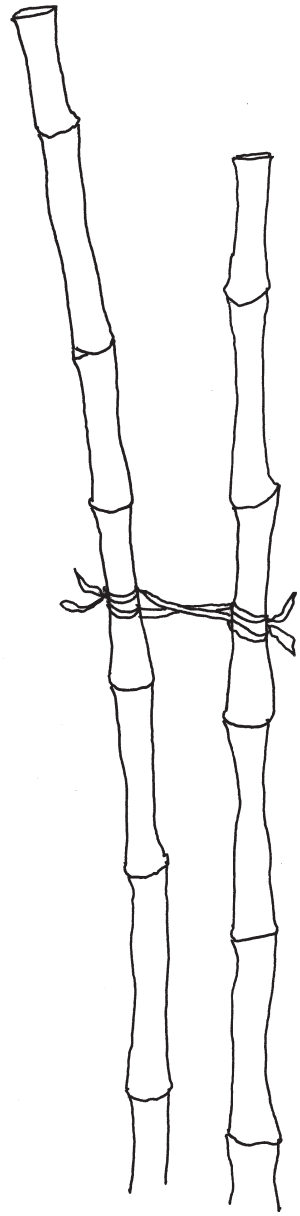

मूल्य : 100.00 रुपये मात्र

अपूर्वा

प्रकाशकीय

इस संकलन का प्रकाशन 'साहित्य भंडार' के प्रथम संस्करण के रूप में सम्पन्न हो रहा है। केदारजी के उपन्यास 'पतिया' को छोड़कर, उनके शेष समस्त लेखन को प्रकाशित करने का गौरव भी 'साहित्य भंडार' को प्राप्त है। केदारनाथ अग्रवाल रचनावली (सं० डॉ० अशोक त्रिपाठी) का प्रकाशन भी 'साहित्य भंडार' कर रहा है।

एक तरह से केदार-साहित्य का प्रकाशक होने का जो गौरव 'साहित्य-भंडार' को मिल रहा है उसका श्रेय केदार-साहित्य के संकलन-संपादक डॉ० अशोक त्रिपाठी को जाता है उसके लिए 'साहित्य-भंडार' उनका आभारी है। यह गौरव हमें कभी नहीं मिलता यदि केदार जी के सुपुत्र श्री अशोक कुमार अग्रवाल और पुत्रवधू श्रीमती ज्योति अग्रवाल ने सम्पूर्ण केदार-साहित्य के प्रकाशन का स्वत्वाधिकार हमें नहीं दिया होता। हम उनके कृतज्ञ हैं।

भाई आर. एस. अग्रवाल ने इस संकलन को कलात्मक सज्जा प्रदान किया इसके लिए उनका आभार।

सतीशचन्द्र अग्रवाल
विभोर अग्रवाल
2009

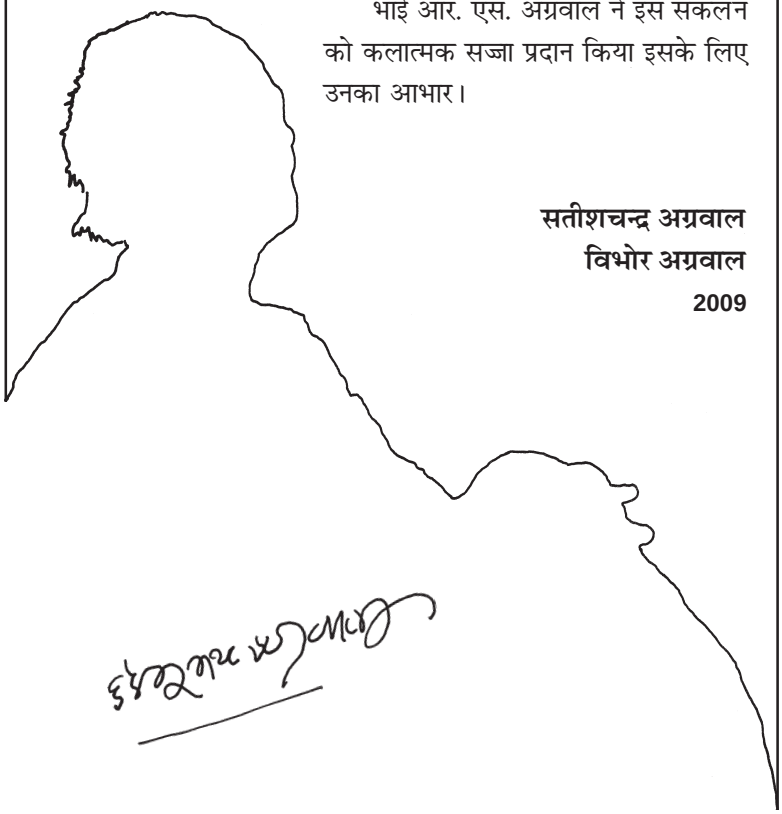

धीर-मति
डॉ० रामविलास शर्मा
को
आदेह दीपित
'अपूर्वा'
सस्नेह

भूमिका

अबकी, मेरी नई कविताओं का यह संकल 'अपूर्वा' है। छोटी-छोटी कविताओं का यह छोटे नाम का संकलन नामधारियों को कैसा लगेगा, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। अनामधारियों को यह नाम दूसरी वजह से अच्छा न लगेगा। उन्हें इस नाम में कुलीनता की गंध मिल सकती है। वैसे यह कविताएँ कुलीनता से सम्बद्ध नहीं है। मैंने तो यह नाम इसे इसलिए दिया है कि इसे सहज ही लिया जा सकता है। इस नाम को लेने में जीभ को कठिनाई न होगी। यही औचित्य है इस नामकरण का।

इस संकलन में 23 जनवरी सन् 1968 ई० से लेकर 5 अगस्त सन् 1982 ई० तक की कुल 63 कविताएँ हैं। इस लम्बे अरसे में मैं इतना ही लिख सका हूँ, ऐसी बात नहीं है। और भी बहुत कुछ लिखा है मैंने। अलावा इसके, अपने पेशे के काम में भी समय गँवाता रहा हूँ। लोग कहते हैं पेशेवर कवि हो जाना और हर-हमेश कविता लिखते जाना अच्छा नहीं होता। ऐसे में जो लिखा जाता है वह घटिया होता है, चालू होता है, कविता के अच्छे पाठक उसे स्वीकार नहीं करते। लेकिन यह धारणा ठीक हो ही, यह मान लेना गलत होगा। देखा यह भी गया है कि कम लिखने वाले भी घटिया कृतियाँ देते रहते हैं। इसलिए आग्रह यही करता हूँ कि मेरी कविताओं को जाँचें-परखें और इसकी चिन्ता न करें कि इतने लम्बे अरसे में मैंने इतना कम क्यों लिखा। देखें कि ये कैसी हैं!

इन कविताओं का स्वर और स्वभाव ऐसा है कि प्रचलित मान्यता के बल पर इन्हें प्रगतिशील रचना होने का सौभाग्य न प्राप्त हो। लोग तो प्रगतिशील कविता में केवल राजनीति की चर्चा मात्र ही चाहते हैं। वे कविताएँ, जो प्रेम से, प्रकृति से, आस-पास के आदमियों से, लोकजीवन से, सुन्दर दृश्यों से, भू-चित्रों से, यथावत् चल रहे व्यवहारों से और इसी तरह की अनेकरूपताओं से विरचित होती हैं, प्रगतिशील नहीं मानी जातीं। मेरी प्रगतिशीलता में इन तथाकथित वर्जित विषयों का बहिष्कार

नहीं है। वह इन विषयों के सन्दर्भ में उपजी हुई प्रगतिशीलता है। मेरा विवेक कहता रहा है कि समग्र जीव में पैठो—भीतर-बाहर का निरीक्षण-परीक्षण करो—वैज्ञानिक दृष्टि से सत-असत को समझो और आदमी को ऐसा कृतित्व दो, जो उसे नेक आदमी बनाये—उसको उसका नकली चेहरा दिखाये—उसे दूसरों से अलग कर न गैर बनाये, न देश से बाहर की बौद्धिक गुहा में ले जाये—न स्वयं से अजनबी बनाये—न झूठे मामले में फँसाये—न बैठे ठाले, दायित्वहीन व्यक्ति की मानसिकता के तनाव का शिकार बनाये—और हो सके तो उसके भीतर-बाहर को जीवंत, जागरूक, और ज्योतित करे। कविता—अच्छी कविता आदमी के विकास-क्रम की मानवीय गरिमा की कविता होती है। कवि कविता को नीचे गिरने से बचाता है। वह उसे ऐसी भाषा देता है, जो कर्तव्य और कर्म से उपजी हो और सारवान और सार्थक हो और दूसरों की समझ में आ सके। कविता जहाँ पहुँचे वहाँ दृष्टि का दीपदान दे—आलोक और आँच से अवसाद, अंधकार, अज्ञान का नाश करे और सच्चे समर्थ मित्र और बंधु अथवा सहकर्मी की तरह पग-पग पर साथ दे। कविता केवल शब्दों का इन्द्रजाल नहीं है कि भ्रम और भुलावे में डालकर आदमी को देश-काल से उठा ले जाये, कहीं बाहर अलौकिक एवं आत्मीय प्रवंचना में, सविशेष बने रहने के लिए—महान और मौलिक कहलाने के लिए।

एक बात ध्यान में रखने की है। वह यह है कि जहाँ अन्य कवियों का अपना-अपना अलग सच होता है, जो बराबर उन्हीं-उन्हीं का बना रहता है, किसी दूसरे का सच नहीं बन पाता, वहाँ प्रगतिशील कवि का सच दूसरों का सच बन जाता है। उसकी मानसिकता दूसरों की मानसिकता बन जाती है। प्रगतिशील कवि जो कुछ लिखता है, वह उसका होकर भी सहज साधारण आदमी की मानसिकता का हो जाता है। इसकी वजह है। जहाँ दूसरे व्यक्तिवादी (अहंवादी) कवि वस्तुनिष्ठता से मुँह चुराये स्वयं में लीन होते हैं, वहाँ प्रगतिशील कवि वस्तुनिष्ठता से ही अपनी आत्मनिष्ठता बनाता है और इस यौगिक संहति को सबको समर्पित कर देता है। तभी तो कविता की निरंतरता कायम रहती है और सांस्कृतिक एकता की अवधारणा सम्भव होती है। तभी तो कविता के विकास-क्रम को, एक-एक दशक में बाँटकर न देखना

ही न्यायोचित ठहरता है। इधर काफी लम्बे अरसे से इसके विपरीत होता चला आया है और हर दशक की पहचान वाले कवि पहले और बाद वाले दशकों के कवियों से जुदा कर दिये गये हैं। बात यहाँ तक बढ़ गई है कि एक दशक की कविता दूसरे दशक की कविता से बिल्कुल अलग कर दी गई है। यह पारस्परिक बहिष्करण कविता के मूल प्रवाह को अवरुद्ध करता है। देखा जाय तो यह प्रवृत्ति प्रतिष्ठित हो जाने की रुझान की द्योतक है। इसीलिए कवियों की छोटी-छोटी टोलियाँ बन गई हैं। सब एक दूसरे की काट बनने का दावा करते हैं। इससे सुपरिणाम के बजाय दुष्परिणाम निकले हैं। मैं कविता की सांस्कृतिक सार्थकता का समर्थक कवि रहा हूँ और अब भी हूँ। इससे मेरी कविता उतनी ही मेरी है जितनी दूसरों की।

मेरी अधिकांश कविताएँ छोटे कद की हैं। देखने में सहज साधारण लगती हैं। न फैशनेबुल हैं न नाटकीय, मंचीय तो वह कतई नहीं हैं। कहने में जो कहती हैं, थोड़े में कहती हैं, विवेक से कहती हैं। ऐसे ढंग से कहती हैं कि कही बात खुल जाय, पूरी तरह स्पष्ट हो जाय। समझने वाले समझ जायँ कि कही गयी बात क्यों कही गयी और कही गयी तो दायित्व निर्वाह कर सकी या नहीं और सही दृष्टि और दिशा देने में सक्षम हुई या नहीं। अभी तक तो किसी ने ऐसा आरोप नहीं लगाया कि मेरी छोटी कविताएँ प्रभावहीन होती हैं। जब भी, जिसने भी इनमें पैठ कर शब्दार्थ के मर्म को पकड़ा, है उसे इनकी सार्थकता और शक्ति का महत्व ज्ञात हुआ है। पाठकों से आग्रह है कि वह भी इन्हें इसी तरह ग्रहण करें और अपनी बनायें। ऐसे ही स्वीकरण से तो कविताएँ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय एकता स्थापित करने में सहायक सिद्ध होती हैं।

पहले मेरे संस्कार भाववादी थे। दुनिया अपने अस्तित्व में मायावी लगती थी। वह मोहती थी। मैं मोहाविष्ट होता था। उसी मोह से मेरी मानसिकता बनती थी। मेरा इंद्रियबोध मुझे उसी ओर ले जाता था। मैं भाववादी कविताएँ लिखता था। काव्य के भाववादी संस्कार मुझे प्रिय लगते थे। प्राचीन काव्य के तौर-तरीके मैं अपनाता था। इसीलिए तब जो कविताएँ मैं लिखता था, वह उसी तरह की इकाइयाँ बनती थीं। मुझे तब तक संसार का अनुभव बहुत कम हुआ था। मैंने आदमी के जीवन जीने की लड़ाई को दूर से भी नहीं देखा था। जो कुछ हो रहा था, वह

परिवर्तन भी हो सकता था—इसका मुझे आभास भी नहीं था। मैंने अपने जीवन में तब तक संघर्ष जाना ही नहीं था। इसलिए मैं केवल अपनी रुचियों के संसार में रहता और उन्हीं रुचियों की कविताएँ पढ़ता और भाव-विभोर होता। वैसी ही कविताएँ भी लिखने का प्रयास करता। मेरी भाषा भी उसी प्रकार की होती। वही अच्छी लगती। संगीत-प्रियता मुग्ध करती। शाब्दिक स्थापत्य की सराहना करता तब मैं था और मेरी कविता। इनके अलावा दूसरों की उपस्थिति मेरे लिए न के बराबर होती थी। नारी की देह-यष्टि का सौन्दर्य अत्यधिक आकृष्ट करता था। प्रकृति का अनूठा सौन्दर्य तब तक मैंने जाना ही नहीं था। मेरी कविता पुराने किताबी काव्य-संस्कार से बनती थी। प्रकृति के पशु-पक्षी, बाग-बगीचे, नदी-पोखर-तालाब देखता तो था, पर मन में काव्य के संस्कार से सम्बद्ध नहीं हो पाते थे। धूप, हवा और ऋतुएँ अच्छी तो लगती थीं, परन्तु कविता को जन्म नहीं दे पाती थीं। यह भी सम्भव हुआ था कभी-कभी कुछ समय के लिए कि मुझे अपने गाँव के दीन-हीन लोगों की सामाजिक और आर्थिक स्थितियाँ विचलित करें। मैंने एक बार 'अछूत' नाम का एक दृश्य-काव्य लिखा भी। यह अपरिपक्व कृति थी। मेरे पिताश्री के मित्र श्री मंगलप्रसाद विश्वकर्मा (जबलपुर) ने उसे खूब ध्यान से पढ़ा और फिर एक लम्बे पत्र में अपनी प्रतिक्रिया लिखकर मेरे पिता के नाम भेजी भी थी। वह अब भी मेरे पास सुरक्षित है। भावावेश में मैंने उसे लिखा था। हो सकता है कि उसके लिखने के पीछे श्री मैथिलीशरण गुप्त की कोई उसी तरह की कृति रही हो। तब आर्यसमाज का प्रभाव गाँव में था। कांग्रेस का प्रभाव भी जन-जीवन पर पड़ने लगा था। निम्न वर्ग से मानसिक सहानुभूति के दिन थे वे। मेरा युवा मन भी प्रभावित अवश्य हुआ होगा।

इसके बाद मैं इलाहाबाद, कानपुर में शिक्षा पाता रहा। वहाँ के लोक-जीवन से सम्पर्क हुआ। कानपुर का विशेष प्रभाव पड़ा। वहाँ के मजदूर वर्ग का जीवन देख-सुन और समझ सका। राजनीति भी कुछ-कुछ आन्दोलित करने लगी। पर प्रभाव कांग्रेसी ही रहा। वकील होते-होते तक मैं मार्क्सवाद के जीवन-दर्शन से अपनी मानसिकता बनाने लगा। मुझे वर्ग-विभाजित समाज की जीवन-पद्धति अरुचिकर लगने लगी। मेरे भाववादी संस्कार ढीले पड़ने लगे और श्रम और समाजवाद

के सिद्धान्त प्रिय लगने लगे। पहले की भाववादी आस्था टूटने लगी। कचहरी की कार्य-प्रणाली में आदमी के रूप में स्वार्थियों की जमात दिखने लगी। सत्य का गला झूठ से घुटते देख सका। न्याय के नाम पर मैंने सरासर अन्याय होते देखा। आदमी और उसके समाज की अर्थनीति और राजनीति से मुझभेड़ हुई। नतीजा हुआ कि मैं मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से अपना विवेक बनाने लगा। फिर तो काव्य के पहले के लगभग सभी संस्कार मुझे छोड़कर पलायन कर गये। काव्य के सम्बन्ध में मेरी धारणा बदल गयी। एक तरह से मेरा नया जन्म हुआ और मैं प्रगतिशील कविता लिखने लगा।

'अपूर्वा' की इन कविताओं में प्रगतिशीलता कई रूपों में विद्यमान है। कुछ कविताएँ तो ऐसी हैं, जो दायित्व-बोध से आदमी की अपनी इकाई को सामाजिक व वैज्ञानिक बनाने की ओर उन्मुख करती हैं। दूसरी कुछ कविताएँ ऐसी हैं, जो आदमी को समाजवादी दृष्टिकोण से जीवन को जाँचने-परखने के लिए आमंत्रित करती हैं और यह ध्वनि प्रकट करती हैं कि जीने का यही दृष्टिकोण सही दृष्ठिकोण है। आम प्रचलित धारणा के पीछे ऐसे अवशेषी संस्कार काम करते रहते हैं, जो आदमी को अपनी ओर ही खींचते रहते हैं और पारम्परिक जीवन जीने की ओर लगाये रहते हैं। कुछ ऐसे अहसास की कविताएँ हैं, जो यथास्थिति के दूरगामी परिणामों को व्यक्त करती हैं और उनकी निस्सारता उजागर करती हैं। आदमी एक सजग, चेतन जीवन-दर्शन से लैस होकर ही, अपने आसपास की घटनाओं के क्रम को देखकर, जीवन जीने की क्षमता बनाए, ऐसा मेरा विचार रहा है और अब तक है। कहीं-कहीं ऐसा भी है कि एक ही कविता में यथास्थिति का बोध और वैज्ञानिक जीवन-दर्शन से प्राप्त बोध एक साथ ही प्रस्तुत हुए हैं। प्रकृति से प्राप्त कुछ कविताएँ भी इसी ओर इंगित करती हैं। रही बात कविताओं की कलात्मकता की, तो मेरी कलात्मकता मेरे ऐसे व्यक्तित्व की कलात्मकता है, जो निजी होते हुए भी दूसरों की मानसिकता की कलात्मकता हो सकती है। यह विचार ही नितान्त अवैज्ञानिक है कि कला का अपना निजी शाश्वत क्षेत्र है, जो कविताओं की आम मानवीय चेतना से कतई सम्बन्ध नहीं रखता। मेरी और अप्रगतिशील रचनाओं में यही फर्क है, जिसे मेरी कविताओं को पढ़कर जाना जा सकता है।

अन्त में मैं अपने प्रियजन डॉ० अशोक त्रिपाठी, एहसान आवारा, रामप्यारे राय, जयकांत शर्मा का हृदय से आभारी हूँ कि ये लोग समय-समय पर मेरी काव्य-यात्रा में साथ देते रहे हैं और अपने सुझाव से दृष्टि देकर कृतार्थ करते रहे हैं। श्री शिवकुमार सहाय भी मुझसे अभिन्न रूप से सदैव ही जुड़े रहे हैं और मेरी पुस्तकों के सुरुचिपूर्ण प्रकाशन में सक्रिय सहयोग देते रहे हैं।

सिविल लाइन्स, बाँदा — **केदारनाथ अग्रवाल**

1 अप्रैल, 1984

अनुक्रम

शीर्षक या प्रथम पंक्ति	रचना-तिथि	पृष्ठ
न अपना-न और का	23 जनवरी, 68	19
मुट्ठियों में कैद आदमी	6 मार्च, 68	20
न बुझी आग की गाँठ	2 अप्रैल, 68	21
समय बदला	4 अप्रैल, 68	22
मर्माहत है प्रकृति	12 सितम्बर, 78	23
पारदर्शी चाँदनी	31 मार्च, 80	25
धरा इरा है	26 जुलाई, 80	27
जहाँ आदमी आदमी होता है	6 अगस्त, 80	28
जहान से बाहर	10 अक्तूबर, 80	29
जीने का दुख	21 अक्तूबर, 80	30
कुछ न कहो तुम	3 जनवरी, 81	31
मर्म को भीतर छिपाये	20 जनवरी, 81	32
आये गये	21 जनवरी, 81	34
बादल का बेटा	8 फरवरी, 81	35
जाग गया मैं भीतर बाहर	23 फरवरी, 81	36
आप अभी जिंदा हैं	7 मार्च, 81	37
न चलाओ दम्भ की दराँती	12 मार्च, 81	38
हमारे हाथ	12 मार्च, 81	39
मुझसे नहीं मरा जाता	16 मार्च, 81	40
प्रतिष्ठित आदमी	25 मार्च, 81	41

चुनाव के पहले	27 मार्च, 81	42
अपने जन्म दिन पर	1 अप्रैल, 81	43
पुत्र के पुरस्कृत होने पर	10 अप्रैल, 81	45
गुलाब	4 जून, 81	46
छल	5 जुलाई, 81	47
वरुण के बदमाश बेटे	तिथि हीन	48
सुबह का सेब	25 अक्तूबर, 81	49
स्नेहिल सुकुमार बत्तियाँ	27 अक्तूबर, 81	50
मन का मौन	31 अक्तूबर, 81	52
बाँध रहे जो	1 नवम्बर, 81	53
खड़ा पहाड़ चढ़ा मैं	10 नवम्बर, 81	55
मैंने आँख लड़ाई	12 नवम्बर, 81	56
विस्तर लपेटकर चल दिया अँधेरा	14 नवम्बर, 81	57
फटा अँधेरा फूहड़ फैला	15 नवम्बर, 81	59
प्राण के परेवा	15 नवम्बर, 81	60
गाँव में थाने	26 नवम्बर, 81	61
रात में रवि सो गया है	26 नवम्बर, 81	62
सुराज! सुराज	26 नवम्बर, 81	64
देवली के नर संहार पर	26 नवम्बर, 81	66
अमर और कहर	1 दिसम्बर, 81	69
अब भी बोलता है	5 दिसम्बर, 81	70
सब कुछ देखा	5 दिसम्बर, 81	71
अन पाये कवि को अपनाये।	10 दिसम्बर, 81	72
विश्वासघाती मसीहा	14 दिसम्बर, 81	73
अरे विदूषक!	28 दिसम्बर, 81/3 जनवरी, 82	74
पेड़ महोदय	2 जनवरी, 82	75
बोलते-बोलते	21 जनवरी, 82	76

बेकार बसन्त	30 जनवरी, 82	77
रोशनी में नहाये	1 फवरी, 82	78
उनके यहाँ दुनिया नहीं घूमती	1 फरवरी, 82	79
अल्हड़ गिलहरी	7 फरवरी, 82	80
काश मैं भी फूलता	1 अप्रैल, 82	81
घंटे उठे, सितारे सोये	2 अप्रैल, 82	82
ढूँढ़ते लोग	21 अप्रैल, 82	83
गुलमोहर	6 मई, 82	84
कमलेश्वर	8 मई, 82	88
प्रश्न और उत्तर	9 मई, 82	90
जंगल बोलता है	10 मई, 82	91
श्रीमान गिरगिटान	6 जून, 82	92
आर्द्र पहाड़	9 जून, 82	93
चलते आदमी अब नहीं चलते	14 जून, 82	94
श्वेत शिरोमणि	22 जून, 82	95
बहता पानी	5 अगस्त, 82	96

●●

अपूर्वा

न अपना–न और का

न अपना–न और का
एहसास है
धूप और आदमी को।
है भी तो
जैसे नहीं है
शीशे में कोई शक्ल–
कागज में कोई चित्र–
काव्य में कोई अर्थ–
याद में कोई याद!
सपाट सुनसान है
नदारद अस्तित्व!
न सत्य
न स्वप्न,
न यथार्थ!

23–1–1968

मुट्ठियों में कैद आदमी

मुट्ठियों में कैद आदमी
घूँसा बना है
दीवार तोड़ने के लिए तना है
मगर दण्ड की
व्यवस्था से अनमना है,
संपुटित उसकी चेतना है।

6–3–1968

न बुझी आग की गाँठ

न बुझी
आग की गाँठ है
सूरज :
हरेक को दे रहा रोशनी–
हरेक के लिए जल रहा–
ढल रहा–
रोज सुबह निकल रहा–
देश और काल को बदल रहा।

2-4-1968

समय बदला

समय बदला,
कटे पत्ते बड़े लम्बे हौसलों के;
खड़ा केला
        जड़ें गाड़े
        अब अकेला;
तना भर है,
जिये चाहे जिये जैसे,
        बना भर है;
हरा हरदम गया
        गम से नहीं दहला!

4-4-1968

मर्माहत है

मर्माहत है
प्रकृति
बिगड़ी राजनीति से।
उखड़े पड़े हैं
परार्थी पेड़,
सूरज–
चाँद–
सितारों का
मुँह जोहते।
इंसान
अब फिर रोपते हैं
अपने और
दूसरों को
एक समान।

इंसान
अब फिर खोलते हैं–

विसर्जन की जगह–

सर्जन के–

नयन

अपने और दूसरों के।

12–9–1978
(बाँदा में आयी भयंकर बाढ़ से प्रेरित)

पारदर्शी चाँदनी

खिली है

खूब छिटकी

पारदर्शी चाँदनी।

उल्टे पड़े हैं मगन मौन,

रेत पर लेटे,

संतुष्ट कछुए,

पीठ से धरती दबाये–

आसमान को पेट पर उठाये।

नदी पीती है

प्रकाश-प्रकाश!

पानी की नहीं–

प्रकाश की बहती है नदी।

यथार्थ की शिलाएँ–

शाप से मुक्त,

किनारे बैठीं

अहिल्याओं-सी हँसती हैं।

और पुल,

खम्भों पर खड़ा,

आवागमन का मार्ग बना है!

31-3-1980
(पारदर्शी चाँदनी में केन-किनारे का दृश्य)

धरा इरा है

धरा इरा है
और धरा से उपजी वाणी
स्वयं इरा है।
यही इरा है मेरी,
यही इरा है मेरी कविता,
जो तुम मुझसे पाते–
अपनी कहकर
हृदय लगाते।

26–7–1980

जहाँ आदमी आदमी होता है

जहाँ
आदमी
आदमी होता है,
वहाँ
—आप नहीं—
आपके आदमी होने का
धोखा होता है।

6-8-1980

जहान से बाहर

जहान से बाहर
अजान में जा रहा आदमी
कहीं-से-कहीं—
न कहीं कुछ होने के लिए,
अपने को गुमराह किये—
दूसरों को तबाह किये—!

10-10-1980

जीने का दुख

जीने का दुख
न जीने के सुख से बेहतर है,
इसलिए कि
दुख में तपा आदमी
आदमी-आदमी के लिए तड़पता है;
सुख से सजा आदमी
आदमी-आदमी के लिए
आदमी नहीं रहता है।

21-10-1980

कुछ न कहो तुम

कुछ न कहो तुम,
तुम्हें देखकर समझ गये हम–
बिना कहे।
बिंधे ग्लानि से–
बँधे मौन से–
व्यथित हुए तुम
दुख की मार सहे;
हाड़ फोड़कर
निकले आँसू
टप टप बहुत बहे।

3–1–1981

मर्म को भीतर छिपाये

मर्म को भीतर छिपाये,

जान को जोखिम से बचाये,

अकबकाये–

सकपकाये–

चलते चले जा रहे हैं लोग–

चीखते–

चिल्लाते–

काटते जूतों से परेशान,

राज-रथी राजनीति से

पिंड छुड़ाये–

दर्द की

बिछी

बहरी

सड़क पर,

अंतहीन यात्रा का

अंत खोजते,

पास आती मौत को

मनौतियों से रोकते।

20–1–1981

आये गये

आये गये
एक-से-एक महिमा-मंडित मानी लोग,
जिनके बाजे
बजे रात-दिन
दिशा-दिशा में–
चढ़े और
चमके जो नभ में–
महामही की विपदा भूले,
वही अंततः
गिरे गगन से,
आत्म-प्रपंची होकर,
टूट गिरे हों जैसे नखत अनाम।

21-1-1981

बादल का बेटा

तैरता कुलकता है
महाकाश में
बादल का बेटा,
सफेद–
ऊनी–
मुलायम–
धरती की कोख का जाया
गभुआर मेमना।

8–2–1981

जाग गया मैं भीतर बाहर

जाग गया मैं भीतर बाहर,
गगन भेदकर
निकला सूरज
मुझे मिला;
तरल ताल की
मृदुल नाल पर,
मेरा शतदल कमल खिला–
रूप-रंग रस-राग भरा;
मधुरा हुई धरा,
जग-जीवन की
जय-यात्रा को
चेतन गंध चली;
समर जीतने लगे कर्म से
श्रम के बाहुबली।

23-2-1981

आप अभी जिंदा है

आप अभी जिंदा है,
मेरे लिए;
क्योंकि आपने
अपने मरेपन को
अन्तराग्नि में
बारम्बार जलाया है;
तमांध को
परास्तकर,
सूर्य के रथ को
आगे बढ़ाया है;
जग और जीवन को
जागरण से
जीवंत बनाया है।
व्यर्थ ही आप शर्मिंदा हैं,
मेरे लिए
आप अभी जिंदा हैं।

7-3-1981

न चलाओ दम्भ की दराँती

न चलाओ
दम्भ की दराँती
मेरे सीने पर
हर्ष के हरे पेड़ जहाँ हँसते हैं,
फूल-फूल हुए महकते हैं;
नाजुक
पंखुरियों से,
दुख-दर्द को परास्त करते हैं।

21-3-1981

हमारे हाथ

जो हमारे साथ हैं
वह
        हमारे हाथ हैं,
कर्म के करतार हैं,
रुचिर
        रचनाकार हैं।

12–3–1981

मुझसे नहीं मरा जाता

मरने का मन हो तब भी तो
मुझसे नहीं मरा जाता;
मेरा जीवन मेरे ऊपर ताने रहता है छाता;
घिरी घहरती मौत बरसती
मुझको नहीं परस पाती,
बूँद-बँद वह टूट-टूटकर टप-टप-टप-टप झर जाती।
मैं चलता, डग भरते चलता,
कीचड़-काँच कुचलते चलता;
दुख-दुनिया की रीति-राह पर
गलता नहीं—नहीं ढलता।

16-3-1981

प्रतिष्ठित आदमी

मजे मारते मरते हैं
तथाकथित
        प्रतिष्ठित आदमी;
तलातल में जी रहे
आदमियों के
        कट्टर दुश्मन;
देखने में
        महापुरुष-महिधर;
वास्तव में
दुष्ट दनुज–तस्कर।

25-3-1981

चुनाव के पहले

चुनाव के पहले
आम आदमी रहा वह
पाँव-पाँव चलने का आदी रहा वह

अब
इमसाल
चुनाव के बाद
जीत की कुरसी हुआ वह
आम आदमी के बजाय चौपाया हुआ वह।

लोग
अब
आदमी को नहीं–
चौपाये को–
जीत की कुरसी को
सादर सलाम करते हैं
उसी के जिलाये जीते
और उसी के मारे मरते हैं।

27-3-1981

अपने जन्म-दिन पर

अपने जन्म-दिन पर
आज, मैंने,
पी० सी० का दिया
गुलाब का पेड़
अपनी जमीन पर लगाया;

फूलों के
वनस्पतीय
राजकुमार को
जी-जान से मैंने अपनाया।

ताजिंदगी
इसे जिऊँगा,

फूलने पर
इसकी प्राकृत सुगंध पिऊँगा,
निरंतर लड़ूँगा मैं

कठिन काल से लड़ाई,

लव मैंने इस पेड़ से

अपराजेय

आत्मीय लगाई।

1-4-1981

पुत्र के पुरस्कृत होने पर[1]

चालिस साल तक–
डुबकी लगाये रहा मैं
धैर्य के सागर में
समाधिस्थ रहा मैं।

अब हँसा मैं,
समाधि से बाहर हुआ मैं,
धूप में धूप
और पानी में पानी हुआ मैं,
पुत्र के
पुरस्कृत होने पर
उपकृत हुआ मैं।

10-4-1981

---

1. केदारजी के पुत्र अशोककुमार अग्रवाल (दक्षिण भारतीय फिल्मों के प्रतिष्ठित छायाकार) को तमिल फिल्म—अंग्रेजी अनुवाद—Don't Pinch My Heart—के लिए उत्कृष्ट रंगीन छायांकन का 'राष्ट्रपति पुरस्कार' मिला था। 1971 में इन्हें इनकी फिल्म 'जन्मभूमि' के लिए राष्ट्रीय एकता पर उत्कृष्ट फिल्म का पुरस्कार भी मिल चुका है, निर्माता के रूप में।

गुलाब

झरने
झरने को
गुलाब है झुका हुआ,
केवल
अनुमोदन पाने को
रुका हुआ।

4-6-1981

छल

उघट[1] घाट के
घन-घमंड से हारा;
छल ने मुझको
मौन मार से मारा;
फिर भी,
अपने 'आत्म-हनन' का
लिये सहारा,
प्रवहमान हूँ,
जैसे मैं हूँ
जन-मन-धारा।

5-7-1981

---

1. बार-बार एहसान जताने वाला–ताना मारने वाला।

वरुण के बदमाश बेटे

गये,
        लौटे चार दिन के बाद;
        घिरे,
घुमड़े,
        भीड़ का मंडल बनाये
कर रहे उत्पात,
दीप्त मंदिर
        मारतंडी को छिपाये;
श्यामवर्णी
        आसुरी आकाश में
        सिक्का जमाये,
वरुण के
        बदमाश बेटे
        मेघ!

सुबह का सेब काटते हैं

सुबह का सेब काटते हैं
हाथ के कमल,
प्यार की पुलक पंखुरियों से।

पानी पुकारता है
सूर्य के भौंरे को,
दिन की देह में
गुंजार करने को।

जी-जान से
जवान किये है रोशनी
प्रकृति को जीवंत जवानी से।

25-10-1981

सनेहिल सुकुमार बाटियाँ

अँधेरे में प्रवाहित, अकुलाई नदी में,
जल-विहार करती हैं
दियलियों में विराजमान,
आदेह दीपित,
रुई की सनेहिल सुकमार बातियाँ–
एक नहीं–
हजार हजार की संख्याओं में
एक साथ।

बिम्बोक्ति से
चेतन हुआ
चमत्कृत नीर,
दियों का दर्शन पाकर।

दिये–
नहीं हैं ये दिये!
नेह की नदी से उद्‌भूत,
आदिम–
अनाविल;
छंद हैं ये आत्मानुभूति के,
कंठस्थ कर रहा है जिन्हें वर्तमान,
तत्काल।

यही हैं
आत्म-दाही चिंतन के
निर्भर और निरस्त्र दिये;
स्वयं-प्रकाशी—
दूसरों को कर रहे प्रकाशित;
तमोगुण-हारी,
सतोगुणी दिये।

साश्चर्य देखते हैं आदमी,
दियों की कौतुकी करामात,
दोनों ओर खड़े,
जगमग से खाये मात।

27-10-1981

मन का मौन

मन का मौन
विराट हो गया;
मेरी बानी में
विराट का बोध भर गया।
मैं अशब्द गुंजार हो गया,
जड़-चेतन का
अन्तर्भेदी प्यार हो गया;
जरा-मरण से पार हो गया;
अन्तहीन
विस्तार हो गया।

31-10-1981

बाँध रहे जो....

बाँध रहे जो
दिशा-दृष्टि की–
गम्य ज्ञान-संज्ञान-गमन की धारा,
जड़मति-चिंतन-चट्टानों से–
बल-विरोध, बाधा-विरोध से–
प्रतिगामी प्रत्यावर्तन से–
सफल न होंगे
वे अपघाती,
चाहे जितना कूटें छाती,
टूट चुके हैं–
फिर टूटेंगे
अपकामी अवरोधन–
खलकामी–
हठकामी
जितने हैं सम्मोहन।

सत्य

प्रतिष्ठित होगा—होगा;

लोक-धर्म भी बदलेगा;

युगधर्मी आलोक

पुनर्जीवन बरसेगा।

1-11-1981

खड़ा पहाड़ चढ़ा मैं

खड़ा पहाड़ चढ़ा मैं
अपने बल पर।
ऊपर पहुँचा
मैं नीचे से चलकर।
पकड़ी ऊँचाई तो आँख उठाई,
कठिनाई अब
नहीं रही कठिनाई।

देखा :
छल-छल पानी
नीचे जाता,
ऊँचाई पर टिका नहीं रह पाता।

जड़ता
झरती है
ऐसे ही नीचे,
चेतन का पौरुष
जब उठता ऊँचे।

10-11-1981

मैंने आँख लड़ाई

मैंने आँख लड़ाई
गगन विराजे राजे रवि से, शौर्य में;
धरती की ममता के बल पर
मैंने ऐसी क्षमता पाई।

मैंने आँख लड़ाई
शेषनाग से, अंधकार के द्रोह में;
जीवन की प्रभुता के बल पर
मैंने ऐसी दृढ़ता पाई।

मैंने आँख लड़ाई
महाकाल से, मृत्युंजय के मोद में;
अजर अमर कविता के बल पर
मैंने ऐसी विभुता पाई।

12-11-1981

बिस्तर लपेटकर चल दिया अँधेरा

बिस्तर लपेटकर चल दिया अँधेरा
सूर्य की आहट पाकर।

मायके से आई
दूर देश की बेटी नदी,
शहर के बाहर
शिलाओं की ससुराल में पड़ी
लहँगा लहराये
        लहरें लेती है।

चक्कर काटते हैं–
        पंख फैलाये,
मुक्त, मंडलाकार,
        प्यार के पखेरू;
याद में आये हों जैसे
उसी के भाई-भतीजे–
        उसी के पास।

तट पर लगी
        उल्लास का उत्सव देखती है
        उत्सुक नाव।

कोई नहीं पुकारता किसी को कहीं
इस या उस पार
खेवा उतारने के लिए।

व्याप्त है
विराट की अभिव्यक्ति
नदी के प्राकृत नेह और नाते में।

14–11–1981

फटा अँधेरा फूहड़ फैला

फटा अँधेरा फूहड़ फैला,
फटी
        काल की झिल्ली।

धूमधाम से
निकला सूरज,
चेतन–
        प्रतिभावान–
        विजेता।

15–11–1981

प्राण के परेवा

मंद
        मदिर
        हवा चली
मूल-बद्ध जीवन के भाव-बोध छंदों की
        चाल में ढली;
यहाँ
        वहाँ
        जहाँ-तहाँ
नाच उठे
        फुट्टफैल—
        गोलबद्ध
        प्राण के परेवा,
चेतना
        प्रबुद्ध हुई—
        जागरण हुआ।

15-11-1981

गाँव में थाने

गाँव में थाने
और थानों में सिपाही हैं

थानों के जियाये
राज-तंत्र से सिपाही हैं

जनता को मिटाये
मार-तंत्र से सिपाही हैं।

26-11-1981

रात में रवि सो गया है

रात में
रवि सो गया है,
तोम तम में खो गया है,
कान जैसे
पेड़ के पत्ते लटकते
टाप सुनते,
ओस पड़ती है टपाटप।

साँस साधे
रात रोती,
मौन–
अंधी।

वायु
पेड़ों पर टँगी है
भूल बनकर।

नींद है निश्चेष्ट,
पहरे पर डटी नि:स्वप्न,
प्यार के पंछी
पड़े बेहोश
नीड़ों में अजान,

अस्मिता-गत मेदिनी है!
शून्य सन्नाटा प्रबल है!!
सृष्टि की सीतापुरी सूनी पड़ी है।

काल का कौतुक अहेरी ओट में है,
नहीं मालूम–
कहाँ कैसे खोट में है।

जल अकम्पित,
थल सशंकित,
आग हत है।

रात की यह वेदना
मैं भोगता हूँ।

चेतना मेरी
मुझे जिंदा किये हैं।

16-11-1981

सुराज! सुराज!

सुराज! सुराज!

मौत के घाट पर मारे गये आदमियों का

भोंड़ा अट्टहास!

न हुई चौबिस आदमियों की मृत्यु

दारुण राजतंत्र की मृत्यु!

परेशान घूमती-फिरती है मेरी कविता

क्रांति के प्रवाह का विश्वास लिए।

समाधान खोजते

और टटोलते हैं

मनबहलाऊ नरक के नायक

फाइलों में

प्रचारित विज्ञप्तियों की रोशनी जलाये,

कुर्सियों पर आसन लगाये,

अघों से न अघाये,

चातुरी का 'चन्द्रोदय' खाये!

बचे लोग

अब शासन और संविधान से परेशान

जी-जान से बहुत घबड़ाये।

26-11-1981

देवली के नरसंहार पर

आकस्मिक भले हो
प्रधानमंत्री के जन्म-दिन पर हुई
चौबिस हरिजनों की हत्या।

भयंकर है यह नर-संहार,
अमानुषिक हुआ अत्याचार,
भारत-भाग्य-विधाता के शासन-तंत्र के लिए!

अश्रु-विगलित है जनतंत्र की जनता;
संसद के सदन में मचा है हाहाकार;

शब्दों का संविधान भी
हुआ है असमर्थ
और अर्थहीन!

रक्त से रंजित हुई है देश की देह;

कलुषित और कलंकित हुई है प्रान्तीय व्यवस्था!

निराकार और नपुंसक हुई है सरकार!!

छुट्टा घूमते फिरे हैं जानलेवा जानवर

प्राणहर आदमियों के वेश में निर्द्वन्द्व!

निष्क्रिय है

लचर और बेदम प्रतिकार!

समाप्त नहीं हो पा रहा नरमेध-यज्ञ!

उड़ने-उड़ाने में

धुआँ हुआ उद्धार!

बाँटने-बँटाने से दया-दान-द्रव्य

न हुआ उन्मूलित–

न रुका अत्याचार!

व्यर्थ है ऐसा समाधान–ऐसा निदान!

बड़े संक्रामक हैं

साम्पत्तिक सम्बन्धों के

पुरातन संस्कार!

टूटते-टूटते भी नहीं टूट पा रही

शताब्दियों की जकड़बंदी!

सम्पूर्ण बदलाव के बिना

स्थापित नहीं हो सकता सार्थक नवीन!

26-11-1981

अमर और कहर

मर कर भी जो मरे नहीं
वह अमर हो गये!
जी कर भी जो जिये नहीं
वह कहर हो गये!

1–12–1981

अब भी बोलता है

अब भी बोलता है,
करकते ओठों से
काँच-काँच का टूटा आदमी,
न टूटे इंसान की तरह
जीवन-जयी बोल,
दर्द की दुनिया में
गिरा,
पड़ा,
और बिखरा।

हैरान हैं उसके तोड़ने वाले
जीवन-जयी बोलों से;
भयातुर बंद किये अपने कान;
टूटे आदमी की तरफ पीठ किये।

5-12-1981

सब कुछ देखा

सब कुछ देखा
तुम्हें देखकर
अब अनदेखा देखा–
कंचन-वर्णी तक्षक देखा–
फन फैलाये
भक्षक देखा।

5-12-1981

अनपाये कवि को अपनाये

मुग्ध,
ठगा-का-ठगा खड़ा, मैं
चाँद देखता रहा हृदय की आँखें खोले,
बँधा-बिंधा प्राकृत प्रकाश के
अनपाये प्रिय को अपनाये,
जैसे पहली बार।

और
रुका-का-रुका रहा शशि
मुझे देखता हुआ मंडलाकार प्रदीपित,
बाँधा-बिंधा भू की प्रतिभा के
अनपाये कवि को अपनाये,
जेसे पहली बार।

10-12-1981

विश्वासघाती मसीहा

सत्य पर चढ़ाये,
असत्य का अँधेर खोल,
सीना तान,
सर्वोपरि बने
और ठने;

घात में लगाये
जंगली-जनतंत्र का जाल,
फाँसते-फँसाते चले आते हैं
दिग्देश और काल,

यही हैं आधुनिक-युगीन
भूगोल और खगोल के
विश्वासघाती मसीहा
जो आदमी नहीं हैं!

14-12-1981

अरे विदूषक!

तुमने,
हमको मारा,
मार-मारकर फिर-फिर मारा;
हमें मारकर,
तुमने अपना स्वाँग सँवारा,
और हमारा स्वाँग उतारा।

अरे विदूषक!
हिंसक है हठयोग तुम्हारा!
दारुण है दुखभोग हमारा!!

28-12-1981/3-1-1982

पेड़ महोदय!

पेड़ महोदय!
कलियाँ खोलो,
कुछ तो हमसे
हँसकर बोलो।

2-1-1982

बोलते-बोलते

बोलते-बोलते
बोला क्या
तैश में हिनहिनाने लगा।

लगाम
जो मैंने उसके लगाई
हिनहिनाना रुका।

यार फिर मेरा
घोड़े से आदमी हुआ।

21-1-1982

बेकार बसन्त

आया
लेकिन ठिठुरा-ठिठुरा,
बादल ओढ़े,
बिना फूल-फुंदना के आया,
अब की बार बसन्त।

इससे हमने नहीं मनाया
पहली बार बसन्त!
चला गया बेकार बसन्त!!

30-1-1982

रोशनी में नहाये

रोशनी में नहाये,
लिबास में लपलपाये,
हजारों की सम्पत्ति हथियाये,
ठहरे आदमी
यथावत् ठहरे हैं–
इनकी महामाया के
बड़े मारू नखरे हैं।

1–2–1982

उनके यहाँ दुनिया नहीं घूमती

उनके यहाँ,
दुनिया नहीं घूमती,
जिनके यहाँ
सिर्फ
दीवार में टँगी
घड़ी की सुइयाँ
घूमती हैं–

सुइयों के साथ
पूर्वजों की छाया
घूमती है–

घूमती छाया को
लोक-लांछित माया
चूमती है।

1-2-1982

अल्हड़ गिलहरी

नीम के पेड़ पर
चढ़ी बैठी
आज
अपना जन्म-दिन
मनाती है
सखी-सहेलियों के साथ
अल्हड़ गिलहरी
जैसे कोई
राजकुमारी
राजमहल के अंतरंग में
मनाये अपना जन्म-दिन
राज परिवार के साथ

7-2-1982

काश! मैं भी फूलता

काश!
मैं भी फूलता
मेरे भाई अनार!
देता, तुम्हारी तरह, मैं भी
लपट मारती कविताओं के फूल
क्रान्तिकारी फूल।

धन्य होता मैं,
धन्य होती मेरी कविताएँ,
मेरे प्राकृत प्रवीण कवि अनार!
स्वीकार करो
मेरा हार्दिक आभार!!

1-4-1982

घंटे उठे, सितारे सोये

घंटे उठे,
सितारे सोये,
हुआ सबेरा,
शासन करने लगी रोशनी
कविताओं के फूल खिलाये।

2-4-1982

ढूँढ़ते लोग

ढूँढ़ते लोग

कचहरी में ढूँढ़ते हैं मुझे!

जिरह-बहस करते में वहीं ढूँढ़ते हैं मुझे!

हार-जीत के हुए फैसलों में ढूँढ़ते हैं मुझे!

ढूँढ़ते-ढूँढ़ते, मुझे नहीं,

अपने हितों को ढूँढ़ते हैं लोग;

हितों के यज्ञ में हविष्य हो रहे मुझको नहीं–

मेरे बेलौस आदमी को नहीं–

दाम के अपने गुलाम को ढूँढ़ते हैं,

न पाकर उसे, छोड़कर चल देते हैं मुझे;

और मैं

हविष्य होकर भी उन्हीं के लिए जीता हूँ–

उन्हें आदमी बनाने के लिए–

सत्य-संज्ञान की रचनाएँ सुनाने के लिए–

उनकी चेतना में मानवीय बोध की गरिमा जगान के लिए–

उनको विवेकी बनाने के लिए।

ढूँढ़ते लोग नहीं ढूँढ़ पाते मुझे,

मैंने ही उन्हें ढूँढ़ा, और पाया–

और उन्हीं के लिए

अपने को हविष्य बनाया।

21–4–1982

गुलमोहर

धूप में खड़ा

हँसता है फूला गुलमोहर,

फूल हैं

कि पेड़ पर बैठीं पंख खोले

झूंड-की-झुंड तितलियाँ हैं

रसराज की रंगीन अभिव्यक्तियाँ हैं।

भंग हो गई

महाराज सूर्य की

न हँसने की अज्ञापित निषेधाज्ञा।

झकाझोर

झूमता झूलता है

मैदान का बेटा गुलमोहर,

हर्ष की हिलोर में

हवा का हिंडोला।

डाल से-डाल पर

चहकती फुदकती हैं

चुनमुन चिड़ियाएँ।

चिक-चिक करतीं

बहुत बतियाती हैं

गिलहरियाँ,

स्वर्ग से जैसे उतर आईं

पेड़ पर अप्सरियाँ।

मुग्ध है

मई के महीने का

धूल धूसरित मैदान

लौट आई देखकर

गुलमोहर में जीवंत जवानी।

6–5–1982

कमलेश्वर

न टिके रह सके व्यवस्था में कमलेश्वर!
न व्यवस्था टिकाये रह सकी कमलेश्वर को!!

अलग हुए एक दूसरे से दोनों
अपनी अपनी विवशताओं से
अपने अपने मन्तव्य के मुताबिक।

असम्भव था दोनों का
एक दूसरे से जुड़े रह पाना,
एक ही चाल और चरित्र से
एक साथ चल पाना।

व्यवस्था का तंत्र
राज-रंजन का तंत्र होता है
ऐसे तंत्र में वही आदमी खपा होता है
जो इसी के तामझाम में पला, बढ़ा,
और पालतू बना
व्यक्तित्व खो चुका होता है।

न ऐसे तंत्र के पालतू रहे कमलेश्वर!
न ऐसे तंत्र की शक्तियों के सम्मुख
नतमस्तक हुए कमलेश्वर!!

होने को वही हुआ जो अवश्यम्भावी था;
न कुछ अजब हुआ–
न गजब हुआ;
मुक्त हुए कमलेश्वर
अपनी जिंदगी जीने के लिए।

8–5–1982

प्रश्न और उत्तर

माँ से
पूछ रहा है बेटा :
मैं क्या? तू क्या मम्मी?

मम्मी कहती है बेटे से :
मैं हूँ तेरा प्रश्न,
तू है मेरा उत्तर।

9-5-1982

जंगल बोलता है

जंगल बोलता है,
दिन के विजय-पर्व के बाद,
अंतराय[1] से नि:सृत
अंधकार के
आदिम बोल,
व्याकुल हैं भूगोल-खगोल।

10-5-1982

---

1. विघ्न-बाधा

श्रीमान गिरगिटान

सिंहासनस्थ हैं श्रीमान गिरगिटान
मेरे गुलाब के फूले खड़े पेड़ पर,
प्रकृति की रम्य रचना का आस्वाद लेते
सुगंध से सन्तुष्ट।

गिरगिटान, कोई और नहीं,
राज-रथ पर सवार मंत्री लगता है,
जिसके चलाये
रथ-चक्र नहीं चलता है।

6-6-1982

आर्द्र पहाड़

आर्द्र बनाकर
छोड़ गया है
जब से बादल,
पानी के अक्षर रोया है
खड़े-खड़े
चुपचाप पहाड़।

9-6-1982

चलते आदमी अब नहीं चलते

चलते आदमी अब नहीं चलते–
सिर्फ
चप्पल-जूते–
और कपड़े चलते हैं–
आदमी होने के एहसास से
वंचित रहते हैं।

14-6-1982

जब भी जहाँ भी दिखे

जब भी–
        जहाँ भी दिखे
हिमानी अस्तित्व के श्वेत शिरोमणी जी
आग के आकुल अंगार तोड़ते दिखे;
निराधारी राजनीति के
        धुआँधारी-समाधान छोड़ते दिखे;
वाहवाही लूटते-बटोरते,
दूसरों के लिए
        मौत के कुएँ खोदते दिखे।

22-6-1982

बहता पानी

बहता पानी
निराकुल बहता रहा,
डूबा पत्थर अतल में डूबा रहा।

मथता मंथन
मनोजल मथता रहा,
जाज्वल जीवन
मनोबल भरता रहा।

चलता चिंतन
निरापद चलता रहा,
पुरंदर असत् पलायन करता रहा।

खुलता दिग्पट
अशेषत खुलता रहा,
मिटता दिग्भ्रम आद्यंत मिटता रहा।

5-8-1982

केदारनाथ अग्रवाल
एवं
रचना-संसार